इस्तांबुल-२

स्तंभ/अनन्तर/जनसत्ता/१ जनवरी, २००६

अतीत के गलियारे

ओम थानवी

पता नहीं क्यों मुझे हमेशा लगता रहा है कि ताजमहल की महिमा थोड़ी बढ़-चढ़ कर सामने आई है। ऐसा नहीं कि वह कोई साधारण इमारत है। मकराने में जाली के काम, नक्काशी और मरमर पर बेल-बूटों की जड़ाई ताज में अनुपम है। लेकिन, मेरी राय में, उसकी महानता ऊंची मेहराब की आयतों और बड़े गुंबद के बीच कहीं खो-सी जाती है। यह चौंकाने वाली धारणा हो सकती है, लेकिन मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि हेजिया (या, अया) सोफिया के मंडप में दाखिल होते ही यह बात जेहन में फिर उभरी।

गौर करने की बात है कि हेजिया सोफिया गिरजे का निर्माण ताजमहल से ग्यारह सौ साल पहले हुआ था। आने वाली सदियों में यह गिरजा इस्लामी स्थापत्य की मुख्य प्रेरणा साबित हुआ। ऑटोमन स्थापत्य की बेमिसाल मस्जिदों के नक्शे हेजिया सोफिया को सामने रखकर ही बने। हेजिया सोफिया को कला के इतिहास में अक्सर दुनिया के आठवें आश्चर्य की संज्ञा दी जाती है। इस्तांबुल की मस्जिदों के बीच यह भी एक मस्जिद प्रतीत होता है, उन मीनारों की वजह से जो सदियों बाद ऑटोमन सल्तनत में जोड़ी गई थीं।

हेजिया सोफिया को रोमन साम्राज्य के पतन के बाद बाइजेंटाइन सम्राट जुस्टिनियान ने बनवाया था। नौ सौ साल बाद मध्य एशिया से आए तुर्कों ने शहर पर कब्जा किया और इस्तांबुल नाम दिया। रोमन राज में यह रोम की जगह नई राजधानी बन गया था। तब सम्राट कोंस्तांतीन के नाम पर इसका नाम कोंस्तांतीनोपल पड़ा। लगता है कालांतर में घिसने के बाद इस्तांबुल इसी का तुर्की रूप बना।

१४५३ में इस्तांबुल पर कब्जे के साथ ऑटोमन साम्राज्य की नींव पड़ी। महमूद-दूसरे ने हेजिया सोफिया के चारों तरफ ऊंची मीनारें खड़ी करवाईं और उसे मस्जिद में बदल दिया। इस्लाम में चूंकि शबीह की इबादत मना है, हेजिया सोफिया की पच्चीकारी पर पुताई कर दी गई। गणराज्य की स्थापना होते ही अतातुर्क ने पुताई मिटवाई और हेजिया की कला को न सिर्फ उभारा बल्कि पांच सौ साल से इबादत के लिए इस्तेमाल हो रही 'मस्जिद' को अजायबघर घोषित कर दिया।

हेजिया सोफिया के परिसर में चहलकदमी करते वक्त जरा अहसास नहीं होता कि थोड़ी ही देर में रहस्य का कैसा आलोक आपके सामने पसरने वाला है। बाईं तरफ रखे बाइजेंटाइन स्तंभों को पार कर दाएं प्रवेश के वक्त भी सिर्फ ईसा मसीह का एक सुनहरा भित्तिचित्र दिखाई देता है। यहां उन चपटी ईंटों का लंबा-चौड़ा गलियारा है जो गिरजे को बनाने में इस्तेमाल हुईं।

गलियारे को पार करते ही आता है हेजिया का विराट मंडप और गुंबद। कहते हैं वास्तुकारों ने पहली दफा पारंपरिक अष्टभुजा मंडप की जगह यहां चौरस चौकोर शैली अख्तियार की। गुंबद भी ऊपर तंबू की तरह न तान कर चपटे रूप में तैयार किया गया। खूबी यह है कि काले संगमरमर के खंभे- जिन पर मंडप खड़ा है- दिखाई नहीं देते; वे उत्तर और दक्षिण की दीवारों के पार्श्व में हैं।

इन भव्य आकारों के बीच कला के सिद्ध नमूने हैं भित्तिचित्रों और जड़ाई में बाइबिल के आख्यान। मंडप में घूमना और कलावीथी में आ ठहरना जैसे रह-रह कर काल और दिक् में डूबना और उतराना है। स्थापत्य के संसार में कुछ कर गुजरने के ख्वाहिशमंद ऑटोमन सुल्तानों को हेजिया सोफिया ने सवाल और जवाब दोनों मुहैया कराए। यानी यह अहसान पुख्ता हुआ कि कुछ कर दिखाना है। दिलचस्प बात है कि इस्तांबुल की दूसरी पहचान नीली टाइल वाली 'नील मस्जिद' हेजिया के ठीक सामने स्थापित है, मानो मुकाबले में खड़ी हो।

मगर नील मस्जिद से ज्यादा कलात्मक और भव्य सुल्तान सुलेमान के वक्त बनी सुलेमानिया मस्जिद है। इसे वास्तुकार सिनान ने बनाया था। ताजमहल भी उसी दौर में, सत्रहवीं सदी के मध्य, बना। कहना न होगा, ताज के 'वास्तुकार' उस्ताद अहमद लाहौरी ने बाहर से जो शिल्पी, मिस्त्री, राजगीर और किताबती बुलाए, उनमें कई ऑटोमन सल्तनत से आए थे।

'तोपकापी' फिल्म शायद आपने देखी हो। लेकिन सदियों से तुर्की सुल्तानों का महल रहा तोपकापी अपने स्थापत्य में मस्जिदों के सामने फीका जान पड़ता है। इसमें सुल्तानों के ताज, सिंहासन, हीरे-जवाहर, मूंगे-पन्ने और हथियार वगैरा प्रदर्शित हैं। दिल्ली में हैदराबाद के निजाम के आभूषणों की प्रदर्शनी मैंने देखी थी। एक नवाब और सुल्तान के संग्रह का फर्क बहुत साफ है। यहां सबसे दिलचस्प मुझे नादिरशाह का तख्ते-ताऊस लगा। इस पर लिखा है, अठारहवीं सदी में यह सिंहासन वह भारत में मुगलों से वापस जीत कर लाया और महमूद-पहले को उपहार में दिया। सोने का तख्त हीरों से इतना चमाचम है जैसे कल किसी जौहरी के यहां से तैयार होकर आया हो। रखरखाव ऐसा है या नकली है, मैं काफी देर तक इसी दुविधा में रहा।

तोपकापी में उदास करता है सुल्तान का हरम। महल में जैसे बेगमों का यह वीआईपी कैदखाना था। परिंदा भी पर नहीं मार सकता मुहावरा मानो यहीं से निकला हो। किन्नर चौकीदार होते थे। तीन सौ साल तक किसी औरत ने यहां, सुल्तान के अलावा, शायद ही किसी पुरुष की पदचाप सुनी हो। इस हरम पर कई उपन्यास लिखे गए हैं और फिल्में बनी हैं। पर हरम का असल रहस्य भोगने वालों के

अलावा शायद ही कोई जान पाया होगा। हरम या रनिवास हमारे रजवाड़ों में कम नहीं होते थे, पर तोपकापी में हरम ही अहम इमारत की तरह दिखाई देता है। केंद्र में बना दीवाने-खास किसी छोटी-मोटी सराय का बावर्चीखाना नजर आता है।

कार्बूजिए का पूरब

जीवन के सरस दस बरस मैंने 'जनसत्ता' के चंडीगढ़ संस्करण का संपादन करते हुए बिताए। वह शहर मूलत: स्विस, मगर फ्रांस में रहने वाले ल कार्बूजिए ने बसाया था। यानी शहर की योजना और वास्तुशिल्प को उन्होंने अंजाम दिया। उन्हें पं. नेहरू ने पंजाब-हरियाणा की नई राजधानी बनाने का जिम्मा सौंपा था।

कार्बूजिए को पिछली सदी के महान वास्तुकारों में गिना जाता है। उन्होंने वास्तुकला (अंधविश्वास से भरे 'वास्तु' से जिसका कोई संबंध नहीं है) को 'शुचिता' का सिद्धांत दिया। आज कई वास्तुकार उनके नक्शे-कदम पर चलते हैं। कुछ वास्तुकार कार्बूजिए सरीखा मोटे घेरे का बड़ा चश्मा लगाते हैं। इनमें चार्ल्स कोरिया भी एक हैं।

इस्तांबुल की एक दुकान में कहीं दुबकी एक छोटी-सी किताब मुझे मिली- तुर्की वास्तुकला और नगर नियोजन, एल-सी की दृष्टि में। ल कार्बूजिए को वास्तुकार अपनापे से 'एल-सी' बोलते थे।

तुर्की से यूनान जाते वक्त मैंने इस किताब को मनोयोग से पढ़ा। चंडीगढ़ में कार्बूजिए के बारे में बहुत सुना और पढ़ा था, मगर यह जिक्र शायद कहीं नहीं आया कि कार्बूजिए ने वास्तुकला का पाठ इस्तांबुल में पढ़ा था।

मारियो सल्वादोरी की एक सुंदर उक्ति है: ''वास्तुकला को पढ़ाया नहीं जा सकता। मगर उसका अध्ययन किया जा सकता है।'' शायद यही वजह हो कि वास्तुकला के श्रेष्ठ अच्छे शिक्षण संस्थान नहीं हैं; मगर श्रेष्ठ वास्तुकार दुनिया में बहुत हैं।

कार्बूजिए ने कभी वास्तुकला की औपचारिक पढ़ाई नहीं की। स्वैच्छिक अध्ययन खूब किया। बचपन में वे चित्र अच्छे बनाते थे। लड़कपन में वास्तुकला में दिलचस्पी पैदा हुई। रोम, विएना और लियों जाकर मशहूर वास्तुकारों के काम का अध्ययन किया। फिर पेरिस के ऑगस्त पेरे के साथ काम शुरू किया। पेरिस में रहते हुए कला में 'घनवाद' का भी गहन अध्ययन कर डाला।

१९११ में चौबीस वर्ष की उम्र में कंधे पर झोला लटका कर अपने एक दोस्त के साथ कार्बूजिए जर्मनी, सरबिया, रोमानिया और बुल्गारिया होते हुए तुर्की पहुंचे।

सात महीने के उस शिक्षा-सफर को कार्बूजिए ने 'पूरब की फलदायी मुसाफिरी' की संज्ञा दी है। उन्होंने तुर्की वास्तुशिल्प के सौ के ऊपर रेखाचित्र बनाए। और कुछ जलरंगी चित्र। १९४८ में, जब वे एक वास्तुकार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे, कुछ रोज के लिए फिर तुर्की गए तो उन्हें लगा कि अच्छा हो अगर वे अपने सैंतीस साल पुराने उस सफर की डायरी के पन्ने भी पलटें।

पहली यात्रा की डायरी में एक जगह उन्होंने लिखा था: ''चाहे वास्तुकला हो, चित्रकला या मूर्तिकला- सफर में आप अपनी आंख से देखते हैं और हाथ से रेखाचित्र बनाते हुए अपने अनुभव आंकते हैं, दर्ज करते हैं।... कैमरा निठल्लों के लिए है जो चाहते हैं कि मशीन उनके लिए देखने का काम करे। जब आप अपने हाथ से कुछ उतारते हैं, उकेरते हैं, आकारों को सहेजते हैं, सतह को सुव्यवस्थित करते हैं- इस सबका अर्थ होता है कि आप पहले देखते हैं, फिर निरखते हैं और फिर शायद कुछ उद्घाटित कर पाते हैं। इसी की कुछ सार्थकता है। आविष्कार करना, रचना, अपने पूरे अस्तित्व को सक्रिय करना... इसी सक्रियता का कोई महत्त्व है।''

लगता है रोदिन के इस सच को कार्बूजिए ने बड़ी जवानी में आत्मसात कर लिया था कि आम आदमी नजर डालता है जबकि कलाकार देखता है। इसी विचार का कार्बूजिए ने बाद में अपनी किताब ''नए वास्तुशिल्प की दिशा में'' (१९२३) के एक अध्याय में विवेचन किया जिसका शीर्षक है- ''आंखें जो देखती नहीं हैं।''

जाहिर है, तुर्की की यात्रा ने कार्बूजिए के भीतर छुपे कलाकार और चिंतक को बाहर आने में बहुत मदद की।

इस्तांबुल पहुंचते ही कार्बूजिए को लगा था कि जिस चीज की तलाश थी वह मिल गई। उन्होंने लिखा, ''इस्तांबुल एक बगिया है, हमारे शहरों की तरह पत्थर की खदान नहीं।''

तुर्की की मस्जिदों के बारे में कार्बूजिए ने कहा: ''अतीत, वर्तमान, उसके पार, निर्विकार- गोया आकारों की रंगावली का एक करुण गान''। उनका कहना था ये मस्जिदें काव्य से ओतप्रोत हैं। सरल, सहज और पवित्र।

तुर्की की मस्जिदों के अपने हर रेखांकन के नीचे कार्बूजिए ने सुंदर इबारत लिखी है। मसलन इस्तांबुल में सुल्तान सलीम की मस्जिद के रेखांकन पर दर्ज है: ''कोमल आकारों का मधुर राग''।

दशकों बाद उन्होंने अपनी चर्चित किताब ''शहरीकरण'' में 'दुख या आनंद' शीर्षक से लिखा कि ''अगर हम न्यूयार्क से इस्तांबुल की तुलना करें तो पाएंगे कि पहला तबाही का रूप है, दूसरा जैसे धरती पर आनंदधाम है। न्यूयार्क सुंदर नहीं है; व्यावहारिक गतिविधियों में भले वह कुछ काम का प्रतीत होता हो, मगर वह हमारे आनंद के संवेदन को आहत करता है।''

इस्तांबुल की हरियाली ने कार्बूजिए को भीतर तक छुआ। वास्तुकला के उनके सिद्धांत में तीन तत्त्व हैं, जो यों हर पारंपरिक वास्तुशिल्प में मौजूद मिलेंगे: सूर्य, आकाश और हरियाली।

अपनी भाषा, परायी लिपि

तुर्की लोग विनम्र तो हैं ही, बहुत स्वाभिमानी भी हैं। इतने कि उनके यहां हुई ट्रॉय की जंग यूनान ने हेलेना की वजह से छेड़ी, वे यह नहीं मानते। वे कहते हैं– वहां पढ़ाया भी जाता है– कि ट्रोजन युद्ध इसलिए हुआ क्योंकि यूनानियों ने मध्य एशिया की तरफ बढ़ते वक्त बोस्फोरस पर लगने वाली चुंगी देने से इनकार कर दिया था।

स्वाभिमान के ऐसे महत्त्वाकांक्षी तुर्की एशिया से जुदा होकर यूरोपियन यूनियन में शामिल होने को बेताब हैं, यह देखकर तकलीफ होती है। शायद ठीक ही समझा जाता है कि मुस्लिम बाहुल्य के कारण यूरोपीय देश उनका मसला लटकाए हुए हैं और जाने कब तक ऐसा किए रखेंगे। लेकिन इस बेचैनी में तुर्की ने आधुनिक होने की बड़ी कवायद छेड़ रखी है। ग्रामीण समाज भले बेचैन हो, इस्तांबुल में जींस पहने– भले मुंह ढांप कर– हर तीसरी युवती दिख जाएगी। जो बुर्के में हैं, उनमें ज्यादा अधेड़ या कस्बाई औरतें मानी जाती हैं। यहां के बुर्कों पर चिलमन नहीं होती। सिर और गर्दन पर हिजाब लपेटा होता है, पर चेहरा खुला रखते हैं।

इतना ही नहीं, अस्सी साल पहले गणराज्य बन जाने के बाद मशहूर तुर्की रहनुमा कमाल अतातुर्क ने अरबी लिपि को तिलांजलि देने का एलान कर दिया था। अब वही तुर्की भाषा लैटिन (रोमन) लिपि में लिखी जाती है। सबा, वतन, हुर्रियत नाम के बड़े अखबारों को 'अंग्रेजी' वर्णमाला में देखते हुए रोज कोफ्त महसूस होती थी। वह चुगताई तुर्की ही थी जिसमें कभी बाबरनामा लिखा गया था। वह तुर्की अब रोमन तुर्की में बदल गई है। अरबी लिपि की अनूठी चित्रात्मकता को छोड़कर इस फेरबदल से तुर्की ने क्या हासिल किया, समझना मुश्किल है।

बहरहाल, रोमन लिपि के कारण अखबार देखकर और बाजारों में सुनकर पता चलता है कि कितने ही तुर्की शब्द हमारी हिंदी में भी हैं। मसलन हलुआ। अरबी–फारसी शब्दों– ज्यादातर अरबी– की तुर्की में भरमार है जो हमारे यहां भी चलन में हैं। मैंने इनकी सूची बनानी शुरू की। हवा, दुनिया, इंसान, हिसाब, किताब, दर्जी, हकीम, दीन, सराय, मशगूल, दिक्कत, दीवान,पनीर...। बाद में एक तुर्की–अंग्रेजी कोश भी खरीद लाया। लगा यह सूची अंतहीन होगी। महज 'ज' (अखबार में नुक्ता नहीं लगा पाते) वर्ण के शब्द देखिए: ज्यादा, जोर, जमीन, जिक्र, जुल्म, जालिम, जमीर, जहमत, जफा, जब्त....! जरा सोचें, ये शब्द हमें न सुहाते तो हिंदी का क्या हाल होता। वह पंडितों की बोझिल जुबान होकर रह जाती, सिनेमा–टीवी की पसंद की पहली भाषा नहीं जो उन्हें अरबों का व्यापार दे रही है। ज्यादा मत सोचिए, वरना बात यहां तक जाएगी कि 'दर्जी' न होता तो हम पहनते क्या और 'पनीर' के बगैर खाते क्या? माने किस नाम से।

चंडीगढ़ में सन्नाटा

इस्तांबुल से लौटते ही मैं चंडीगढ़ गया। सड़कों, बगीचों, बाजारों और सुखना झील पर। जैसे नई आंख और कदमों से शहर को फिर टटोलने की कोशिश कर रहा हूं। आखिर इसमें कहां कमी है! इस्तांबुल के ज्ञान को पचाकर कार्बूजिए क्यों चंडीगढ़ को किसी तरह का 'आनंदधाम' नहीं बना पाए? भले वह तबाही या पत्थरों की खदान नहीं है, लेकिन उसकी शक्ल एक बड़े–से अस्पताल की बन कर क्यों रह गई? शहर के बाशिंदे जैसे अपना बिस्तर छोड़ गलियारों में निकलते हों और फिर अपने–अपने वार्ड में लौट जाते हों! क्यों दस साल रह आने के बाद भी मुझे या मेरे परिवार को यह नहीं लगता कि कुछ पीछे छूट गया है?

चंडीगढ़ में सूर्य, आकाश और हरियाली के नजरिए से कोई कसर नहीं है। कार्बूजिए के ये तीनों उपादान आप बखूबी किसी भी कोण पर साक्षात अनुभव कर सकते हैं। पंजाब के ग्रामीण घरों में बाहर दिखाई देने वाली ईंटों का रूप उन्होंने एक कायदे की तरह नई राजधानी के घरों पर आयद किया। धीरे–धीरे इन ईंटों का भी आधुनिक रूप तैयार हो गया। हालांकि इसमें कार्बूजिए क्या करते।

नगर भले जरूरत से ज्यादा नियोजित हो, पर उसकी वास्तुकला अनूठी है। ज्यादा इमारतों का खाका खुद कार्बूजिए ने बनाया था। विधान परिसर और आजादी के प्रतीक खुले हाथ का स्मारक हर वास्तुप्रेमी का ध्यान खींचते हैं। हां, मंदिरों और शहर के श्मसान पर वास्तुकला बेवजह हावी है।

शहर की सड़कें खूब चौड़ी हैं। दोनों तरफ दर्जनों प्रजातियों के पेड़ हैं। इस काम में महेंद्रसिंह रंधावा ने कार्बूजिए का सपना साकार करने में जी–जान लगाई। शहर में इतने बाग हैं कि बीसवीं सदी के नियोजित शहरों में शायद ही होंगे। यह दूसरी बात है कि शहर के नाम पर ज्यादा प्रसिद्ध 'रॉक गार्डन' है, जो वास्तव में बाग नहीं है।

इस सबके बावजूद शहर में रूह नहीं है। हलचल के बीच एक कोफ्त भरा सन्नाटा यहां छाया रहता है। शहर की कोई सांस्कृतिक पहचान नहीं है। न शहर की कोई धुरी है जिसे आप सांस्कृतिक कह सकें। पिछले पचास साल में एक बड़ा लेखक, कलाकार, संगीतकार शहर ने देश को नहीं दिया। जो व्यक्ति शहर छोड़कर जाता है, लौटकर नहीं आता। वहां मजाक चलता है कि यह टायर्ड और रिटायर्ड लोगों का शहर है।

सबसे अजीबोगरीब बात यह कि आप तल्खी के साथ महसूस करते हैं कि इतनी हरियाली होते हुए भी शहर के दरख्तों पर परिंदे बैठे नहीं मिलते। न उनकी कुहक, न फड़फड़ाहट, न पेड़ के नीचे सुस्ताने वालों को कपड़े खराब होने का डर। सुखना झील पर मौसम में पक्षी जरूर बैठे मिलेंगे, पर वे सब प्रवासी पक्षी होते हैं।

रूह के मामले में कहा जा सकता है कि वह होते–होते दाखिल होती है। कहां सदियों पुराने शहर, कहां महज पचास साल की दास्तान। लेकिन शहर की एक बनती हुई संस्कृति पहचानने के लिए और बसे हुए दरख्त देखने के लिए क्या सचमुच सदियों इंतजार करना पड़ता है? कहीं कोई कसर जरूर रही है। मगर आखिर कहां।

रूमी उवाच

तेरहवीं सदी के सूफी दार्शनिक और कवि मौलाना जलालुद्दीन रूमी की कर्मस्थली तुर्की का कोन्या शहर था। वहीं उनका मजार है।

लंबे चोगे में चक्रांत नाचते रूमी परंपरा के दरवेश का एक शिल्प मैंने इस्तांबुल के हवाई अड्डे पर खरीदा और रूमी की मसनवी और रूबाइयों से ली गई चुनिंदा सूक्तियों की एक किताब भी। उसमें से कुछ सूक्तियां आपकी नज़्र हैं:

- हर कांटे पर गुलाब नहीं उगता।
- आप सब कुछ नहीं देख सकते; जिन चीजों से आप प्यार करते हैं वे आपको अंधा और बहरा बना देती हैं।
- टेढ़ा जूता टेढ़े ही पैर में आता है।
- बहुत धारदार तलवार भी मुलायम रेशम को नहीं काट सकती।
- मैं जूतों को लेकर परेशान था, तभी मैंने ऐसा शख्स देखा जिसके पांव नहीं थे।
- हर बात को ठीक कहना मूर्खता है; जो हर बात को गलत कहे वह आततायी है।
- जो प्यार करते हैं, वे कड़ुआहट में भी थोड़ा रस घोल देते हैं।